१४ कर्म, कर्मबन्ध और कर्मक्षय

☐ श्री राजीव प्रचंडिया

सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ सूक्ष्म/अदृश्य शरीर वस्तुतः कार्माण शरीर कहलाता है। यह कार्माण शरीर आत्मा में व्याप्त रहता है। आत्मा का जो स्वभाव (अनन्त ज्ञान-दर्शन, अनन्त आनन्द-शक्ति आदि) है, उस स्वभाव को जब यह सूक्ष्म शरीर विकृत/आच्छादित करता है तब यह आत्मा सांसारिक/बद्ध हो जाता है अर्थात् राग-द्वेषादिक काषायिक भावनाओं के प्रभाव में आ जाता है अर्थात् कर्मबन्धन में बँध जाता है जिसके फलस्वरूप यह जीवात्मा अनादिकाल से एक भव/योनि से दूसरे भव/योनि में अर्थात् अनन्त-भवों/अनन्त योनियों में इस संसार-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है।

कर्म जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक विश्लेषण जितना जैन दर्शन करता है उतना विज्ञान सम्मत अन्य दर्शन नहीं। जैन दर्शन के समस्त सिद्धान्त/मान्यताएँ वास्तविकता से अनुप्राणित, प्रकृति अनुरूप तथा पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। फलस्वरूप जैन धर्म एक व्यावहारिक तथा जीवनोपयोगी धर्म है।

'कर्मबन्धन' की प्रणाली को समझने के लिए जैनदर्शन में निम्न पाँच महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख निरूपित है, यथा—

(१) आस्रव,
(२) बन्ध,
(३) संवर,
(४) निर्जरा, तथा
(५) मोक्ष।

मनुष्य जब कोई कार्य करता है, तो उसके आस-पास के वातावरण में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके कारण उसके चारों ओर उपस्थित कर्म-शक्ति युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणु/कार्माण वर्गणा/कर्म आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। इनका आत्मा की ओर आकर्षित होना आस्रव तथा आत्मा के साथ क्षेत्रावगाह/एक ही स्थान में रहने वाला सम्बन्ध बन्ध कहलाता है। इन परमाणुओं को आत्मा की ओर आकृष्ट न होने देने की प्रक्रिया वस्तुतः संवर है। 'निर्जरा'

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा से इन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं के छूटने का विधि-विधान है तथा आत्मा का सर्वप्रकार के कर्म-परमाणुओं से मुक्त होना मोक्ष कहलाता है। वास्तव में कर्मों के आने का द्वार आस्रव है जिसके माध्यम से कर्म आते हैं। संवर के माध्यम से यह द्वार बन्द होता है अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है तथा जो कर्म आस्रव-द्वार द्वारा पूर्व ही बद्ध/संचित किए जा चुके हैं, उन्हें निर्जरा अर्थात् तप/साधना द्वारा ही दूर/क्षय किया जा सकता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा मुक्ति के कारण हैं, तथा आस्रव और बन्ध संसार-परिभ्रमण के हेतु हैं। इन उपर्युक्त पाँच बातों को जैन दर्शन में तत्त्व कहा गया है। यह निश्चित है कि तत्त्व को जाने/समझे बिना कर्म-रहस्य को समझ पाना नितान्त असम्भव है। मोक्ष मार्ग में तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते हैं।

'तस्यभावस्तत्त्वम्' अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानना तत्त्व कहलाता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु के प्रति वही भाव रखना, तत्त्व है, किन्तु वस्तु स्वरूप के विपरीत जानना/मानना मिथ्यात्व/उल्टी मान्यता/यथार्थ ज्ञान का अभाव है। यह मिथ्यात्व काषायिक भावनाओं (क्रोध, मान, माया और लोभ) तथा अविरति (हिंसा, झूठ, प्रमाद) आदि मनोविकारों को जन्म देता है, जिससे कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है। उपरोक्त तत्त्वों को सही-सही रूप में जान लेने/सम्यग्दर्शन के पश्चात् पर-स्व भेद बुद्धि को समझकर/सम्यग्ज्ञान के तदनन्तर इन तत्त्वों के प्रति श्रद्धान तथा भेद-विज्ञान पूर्वक इन्हें स्व में लय करने/सम्यग् चारित्र से कर्मों का संवर निर्जरा होता/होती है। निर्जरा हो जाने पर तथा समस्त कर्मों से मुक्ति मिलने पर ही जीव संसार के आवागमन से छूट जाता है। निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

जैनदर्शन में कार्माण वर्गणा/कर्म-शक्ति युक्त परमाणु/कर्म, को मूलतः दो भागों में विभक्त किया गया है। एक तो वे कर्म जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करते हैं, घाति कर्म कहलाते हैं जिनके अन्तर्गत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म आते हैं तथा दूसरे वे कर्म जिनके द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप के आघात की अपेक्षा जीव की विभिन्न योनियाँ, अवस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ निर्धारित हुआ करती हैं, अघाति कर्म कहलाते हैं, इनमें नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म समाविष्ट हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म :

कार्माण वर्गणा/कर्म परमाणुओं का वह समूह जिससे आत्मा का ज्ञान गुण प्रच्छन्न रहता है, ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के प्रभाव में आत्मा के अन्दर व्याप्त ज्ञान-शक्ति शीर्ण होती जाती है। फलस्वरूप जीव रूढ़ि-क्रिया-काण्डों में ही अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट करता है। इस कर्म के क्षय के लिए सतत स्वाध्याय करना जैनागम में बताया गया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनावरणीय कर्म :

कर्म-शक्ति युक्त परमाणुओं का वह समूह जिसके द्वारा आत्मा का अनन्त दर्शन स्वरूप अप्रकट रहता है, दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के कारण आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानने में सर्वथा असमर्थ रहता है। फलस्वरूप वह मिथ्यात्व का आश्रय लेता है।

मोहनीय कर्म :

इस कर्म के अन्तर्गत वे कार्मण वर्गणाएँ आती हैं जिनके द्वारा जीव में मोह उत्पन्न होता है। यह कर्म आत्मा के शान्ति-सुख-आनन्द स्वभाव को विकृत करता है। मोह के वशीभूत जीव स्व-पर का भेद-विज्ञान भूल जाता है। समाज में व्याप्त संघर्ष इसी के कारण हैं।

अन्तराय कर्म :

आत्मा में व्याप्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द के अतिरिक्त अन्य सामर्थ्य शक्ति को प्रकट करने में जो कर्म परमाणु बाधा उत्पन्न करते हैं, वे सभी अन्तराय कर्म के अन्तर्गत आते हैं। इस कर्म के कारण ही आत्मा में व्याप्त अनन्त शक्ति का ह्रास होने लगता है। आत्म-विश्वास की भावनाएँ, संकल्प शक्ति तथा साहस-वीरता आदि मानवीय गुण प्रायः लुप्त हो जाते हैं।

नाम कर्म :

इस कर्म के द्वारा जीव एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता है तथा उसके शरीरादि का निर्माण भी इन्हीं कर्म-वर्गणाओं के द्वारा हुआ करता है।

गोत्र कर्म :

कर्म परमाणुओं का वह समूह जिनके द्वारा यह निर्धारित होता है कि जीव किस गोत्र, कुटुम्ब, वंश, कुल-जाति तथा देश आदि में जन्म ले, गोत्र कर्म कहलाता है। ये कर्म-परमाणु जीव में अपने जन्म की स्थिति के प्रतिमान-स्वाभिमान तथा ऊँच-नीच-हीन-भाव आदि का बोध कराते हैं।

आयु कर्म :

इस कर्म के माध्यम से जीव की आयु निश्चित हुआ करती है। स्वर्ग-मनुष्य-तिर्यञ्च-नरक गति में कौनसी गति जीव को प्राप्त हो, यह इसी कर्म पर निर्भर करता है।

वेदनीय कर्म :

इस कर्म के द्वारा जीव को सुख-दुःख की वेदना का अनुभव हुआ करता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन अष्ट कर्मों की एक सौ अड़तालीस उत्तर-प्रकृतियाँ जैनागम में उल्लिखित हैं जिनमें ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तेरानवे, गोत्र की दो तथा अन्तराय की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

उपरोक्त कर्म-परमाणुओं के भेद-प्रभेदों का सम्यक् ज्ञान होने के उपरान्त यह सहज में कहा जा सकता है कि घाति-अघाति कर्म आत्मा के स्वभाव को आच्छादित कर जीव में ज्ञान, दर्शन व सामर्थ्य शक्ति को शीर्ण करते हैं तथा ये कर्म जीव पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप संसारी जीव सुख-दुःख के घेरे में घिरे रहते हैं।

इन अष्ट कर्मों के अतिरिक्त 'नोकर्म' का भी उल्लेख आगम में मिलता है। कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक शरीरादि रूप पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दुःख में सहायक होता है, वस्तुतः 'नोकर्म' कहलाता है। ये 'नोकर्म' भी जीव पर अन्य कर्मों की भाँति अपना प्रभाव डाला करते हैं।

जैन दर्शन की मान्यता है कि 'सकम्मुणा विप्परिया सुवेइ' अर्थात् प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से कष्ट पाता है। आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीर्णा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा-आलोचना करता है और अपने कर्मों के द्वारा कर्मों का संवर-आस्रव का निरोध भी करता है। यह निश्चित है कि जैसा व्यक्ति कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। ऐसा कदापि नहीं होता कि कर्म कोई करे और उसका फल कोई अन्य भोगे। इस दर्शन के अनुसार 'अप्पो वि य परमप्पो, कम्म विमुक्को यहोइ पुडं' अर्थात् प्रत्येक आत्मा कृत कर्मों का नाश करके परमात्मा बन सकता है। यह एक ऐसा दर्शन है जो आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है तथा परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है किन्तु यहाँ परमात्मा के पुनः भवातरण की मान्यता नहीं है। वास्तव में सब आत्माएँ समान तथा अपने आप में स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण हैं। वे किसी अखंड सत्ता का अंश रूप नहीं हैं। किसी कार्य का कर्त्ता यहाँ परकीय शक्ति को नहीं माना गया है। अतः जैन-दर्शन कर्मफल देने वाला कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति अथवा ईश्वर को नहीं मानता। फलस्वरूप प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार स्वयं कर्त्ता और उसका भोक्ता है।

जैन दर्शन में कर्मबन्ध के पाँच मुख्य हेतु—मिथ्यात्व असंयम, प्रमाद, कषाय तथा योग (काय-मन-वचन की क्रिया)—उल्लिखित हैं। इनमें लिप्त रहकर जीव कर्म जाल में बुरी तरह से जकड़ा रहता है। इनसे मुक्त्यर्थ जीव को अपने भावों को सदैव शुद्ध रखने के लिए कहा गया है क्योंकि कोई भी कार्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करते समय यदि जीव की भावना शुद्ध तथा राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ-कषायों से निर्लिप्त, वीतरागी है, तो उस समय शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी भी प्रकार का कर्मबन्ध जीव में नहीं होता। मूलतः जीव के मनोविकार ही कर्मबन्ध की स्थिति को स्थिर क्रिया करते हैं। कार्य करते समय जिस प्रकार का भाव जीव के मन में उत्पन्न होता है, उसी भाव के तद्रूप ही जीव में कर्म-बन्ध स्थिर हुआ करता है। प्रायः यह देखा/सुना जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही प्रकार के कार्य करने पर भी उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्मबन्ध होता है। इसका मूल कारण है कि एक ही प्रकार के कार्य करते समय इन व्यक्तियों के भाव सर्वथा भिन्न प्रकार के होते हैं; फलस्वरूप इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्मबन्ध होता है। जैन दर्शन में 'कर्मबन्ध' को चार भागों में विभाजित किया गया है, यथा—

(१) प्रकृति बन्ध,
(२) स्थिति बन्ध,
(३) अनुभव/अनुभाग बन्ध,
(४) प्रदेश बन्ध।

प्रकृति बन्ध :

जो बन्ध कर्मों की प्रकृति/स्वभाव स्थिर किया करता है, प्रकृति बन्ध कहलाता है।

स्थिति बन्ध :

यह बन्ध कर्म-फल की अवधि/काल को निश्चित करता है।

अनुभाग बन्ध :

कर्मफल की तीव्र या मन्द शक्ति की निश्चितता अनुभाग बन्ध कहलाती है।

प्रदेश बन्ध :

कर्मबन्ध के समय आत्मा के साथ कार्माण वर्गणा/कर्म का सम्बन्ध जितनी संख्या या शक्ति के साथ होता है, प्रदेश बन्ध कहलाता है।

इन चार प्रकार के कर्मबन्धों में प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से तथा कषाय-मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद के निमित्त से स्थिति और अनुभाग बन्ध हुआ करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के गुणों का तारतम्य गुणस्थान/जीवस्थान कहलाता है। अर्थात् जीव के आध्यात्मिक विकास का क्रम गुणस्थान/जीवस्थान है। ये गुणस्थान/जीवस्थान मिथ्या दृष्टि आदि के भेद से चौदह होते हैं जिनमें प्रारम्भ के बारह

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान मोह से सम्बन्धित हैं तथा अन्तिम दो गुणस्थान योग से। इन गुण-स्थानों में कर्मबन्ध की स्थिति का वर्णन करते हुए जैनाचार्यों ने बताया कि प्रथम दश गुणस्थान तक चारों प्रकार के बन्ध उपस्थित रहते हैं किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही शेष रहते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में ये दोनों भी समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर चारों प्रकार के बन्ध से मुक्त होकर यह जीवात्मा सिद्ध/परमात्मा हो जाता है।

यह निश्चित है कि आत्मा कर्म और नोकर्म जो पौद्गलिक हैं, से सर्वथा भिन्न है। इस पर पौद्गलिक वस्तुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा करता, यह अनुभूति भेद-विज्ञान कहलाती है, जो जीव को तप/साधना की ओर प्रेरित करती है। आगम में तप की परिभाषा में कहा गया है कि 'परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्' अर्थात् कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाय वह तप है। जैन दर्शन में तप के मुख्यतया दो भेद किए गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप के अन्तर्गत अनशन/उपवास, अवमौदर्य/उनोदर, रस-परित्याग, भिक्षाचरी/वृत्तिपरिसंख्यान, परिसंलीनता/विविक्तशय्यासन और कायाक्लेश तथा आभ्यन्तर तप में—विनय, वैयावृत्य/सेवा-सुश्रूषा, प्रायश्चित, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग/व्युत्सर्ग नामक तप आते हैं। आभ्यन्तर तप की अपेक्षा बाह्य तप व्यवहार में प्रत्यक्ष परिलक्षित हैं किन्तु कर्म क्षय और आत्म-शुद्धि के लिए तो दोनों ही प्रकार के तप का विशेष महत्त्व है। वास्तव में तप के माध्यम से ही जीव अपने कर्मों का परिणमन कर निर्जरा कर सकता है। इसके द्वारा कर्म-आस्रव समाप्त हो जाता है और अन्ततः सर्वप्रकार के कम-जाल से जीव सर्वथा मुक्त हो जाता है। कर्म मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त्यर्थ जैन-दर्शन का लक्ष्य रहा है—वीतराग-विज्ञानिता की प्राप्ति। यह वीतरागता सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। वस्तुतः श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र से कर्मों का निरोध होता है। जब जीव सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होता है तब आस्रव से रहित होता है जिसके कारण सर्वप्रथम नवीन कर्म कटते/छँटते हैं, फिर पूर्वबद्ध/संचित कर्म क्षय/दूर होने लगते हैं। कालान्तर में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये तीन कर्म भी एक साथ सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। इसके उपरान्त शेष बचे चार अघाति कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय/दूर कर जीव निर्वाण/मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आगम में कहा गया है कि 'कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्षः।' उपर्यंकित कथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म-मल से दूर हटने के लिए जीवन में रत्नत्रय की समन्वित साधना नितान्त उपयोगी एवं सार्थक है।

•□•

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org